Scholarly Research Journal for Humanity Science & English Language,
Online ISSN 2348-3083, SJ IMPACT FACTOR 2017: 5.068, www.srjis.com
PEER REVIEWED JOURNAL, FEB – MAR, 2019, VOL- 7/32

संस्कृति, अस्मिता और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्रो. विनोद कुमार मिश्र

भारतवर्ष में अनेक तरह की जातियाँ निवास करती हैं, जिनकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ अलग-अलग हैं। इस देश में निवास करने वाली जनता में धार्मिक एवं परंपरागत रूढ़ि भी विद्यमान है। प्रत्येक राष्ट्र की तरह भारत में भी रूढ़ि एवं धार्मिक सांप्रदायिकता द्वारा उत्प्रेरित समाज के विघटनकारी तत्त्व सैकड़ों वर्ष से क्रियाशील रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप न केवल अलग-अलग धर्मों को मानने वाले लोगों के बीच एक दरार पैदा हुई, बल्कि धर्मोन्माद का नग्न नर्तन भी समय-समय पर दिखाई पड़ता है। इसका दुष्प्रभाव यह हुआ कि हमारे समाज में ही कभी न भर पाने वाली खाई को बल मिला। स्थिति सुधरने की बजाय और बदतर हुई तथा विकास का मार्ग अवरूद्ध हुआ। जिस भारतवर्ष में सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद एकता की बात की जाती रही है उसकी संस्कृति के लिए इससे बड़ा संकट और क्या हो सकता है? सभ्यता, संस्कृति की ही बाह्याभिव्यक्ति है और सभ्यता का आभ्यान्तिरिक स्वरूप संस्कृति है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने उसे मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति बताया है। उनका मत है कि, "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है।"[1] आशय यह है कि संस्कृति हमारे राष्ट्र के चरित्र को निर्मित करने में अहम भूमिका निभाती है। संस्कृति के विखंडित होने का अर्थ है - अपनी अस्मिता खो देना; क्योंकि सांस्कृतिक पहचान ही किसी देश की सर्वप्रमुख पहचान होती है। अपनी परंपरा से कटकर कोई व्यक्ति न केवल अपने अतीत का गौरव खो देता है बल्कि उसके भविष्य-निर्माण की ऊर्जस्विता भी नष्ट हो जाती है। अरुण कमल ने अपनी एक कविता में ठीक ही लिखा है कि- 'यदि किसी की निर्मम ढंग से हत्या करनी हो तो उसे भरपेट खाना दो, रहने को आवास दो और उसे किसी कोठरी में बंद कर दो।' कोठरी में बंद व्यक्ति पूरे समाज से कटकर, अपनी संस्कृति से कटकर, अपने परिवेश से कटकर कम से कम सांस्कृतिक रूप से तो मर ही जाता है साथ ही उसकी वैचारिक शक्ति भी धीरे-धीरे विनष्ट होती जाती है। अतएव यह जानना निश्चित रूप से उपयोगी होगा सांस्कृतिक अस्मिता के पहलू कौन-कौन से हो सकते हैं

Copyright@2019 Scholarly Research Journal for Humanity Science & English Language

ताकि इस समस्या को वैज्ञानिक रूप में देखा-समझा जा सके। उन बिंदुओं की ओर संकेत किया जा सके जिनके द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का सच्चा प्रयास किया जा सकता है। इस तथ्य के मद्देनजर इस बात पर विचार करना अत्यंत प्रासंगिक होगा कि महान रचनाकार और विचारक आचार्य हजारी प्रसाद के साहित्य की सम्पूर्ण चेतना का केंद्रबिन्दु सांस्कृतिक समन्वय का प्रयास है अथवा नहीं ? उनकी सम्पूर्ण चिंता का केन्द्रबिन्दु क्या है? वे साहित्य को किस दृष्टि से देखने अथवा मूल्यांकित करने का प्रयास करते हैं ?

आचार्य हजारी प्रसाद का लेखन काल 1930 से 1979 तक यानी लगभग 50 वर्षों में फैला हुआ है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने अपने लेखन की शुरूआत उस दौर से की थी जब आजादी का आन्दोलन चरम की ओर बढ़ रहा था। एक ओर रूस से प्रभावित वामपंथी विचारधारा देश में प्रवेश कर रही थी और कांग्रेस में समाजवादी पार्टी का उदय हो गया था, राष्ट्रवादी चेतना आकार ले रही थी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक शक्तियाँ भी अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ा रही थीं। अंग्रेजों की शह, अपनी राजनैतिक प्रतिष्ठा एवं कट्टर मुस्लिम नेताओं के प्रतिनिधि के रूप में अभिशप्त मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा पाकिस्तान की माँग भारत के लिए असहनीय पीड़ा का कारण बनी। स्वतंत्रता के स्वरूप पर विचार करते हुए दलितों, स्त्रियों और निम्न वर्ग की मुक्ति को ही राष्ट्र का लक्ष्य घोषित किया जाने लगा था। बाबासाहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितों के लिए सुरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र की माँग पहले ही रख चुके थे। इसी ऊहापोह के बीच देश को आजादी मिली। लेकिन इस आजादी के साथ ही मिला कभी न मिटने वाला दंश-पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन। सीमा प्रान्तों से पलायन करते मुस्लिम और अपने गाँव, जन्मभूमि से उखड़कर आ रहे शरणार्थियों के दल के दल। इन्हीं परिस्थितियों के बीच देश के संविधान का निर्माण हुआ और भारत को एक संप्रभुता संपन्न धर्मनिरपेक्ष गणराज्य घोषित किया गया।

यह संक्रमण काल सिर्फ भारत में ही रहा हो, ऐसा नहीं है। पूरा विश्व इसी दौर में बनता-बिगड़ता एक नया रूप धारण कर रहा था। पहले विश्वयुद्ध में धन-जन की अपार हानि तो हो ही चुकी थी, द्वितीय विश्वयुद्ध में नस्लवाद से प्रेरित फासीवाद ने मानवता का अभूतपूर्व विनाश किया। साठ लाख यहूदी यातना-शिविरों में भयानक यातनाओं से मारे गए थे, हिरोशिमा और नागसाकी पर अणुबम के हमलों ने सम्पूर्ण विश्व की मानवता को शर्मसार कर दिया था। विश्वयुद्ध के पश्चात् रूस और अमेरिका के बीच शक्ति का ध्रुवीकरण और शीतयुद्ध से पूरे विश्व की जनता प्रभावित हो रही थी। देश-दुनिया में मानवता का दायरा अत्यंत संकुचित होता जा रहा था। सर्वत्र रक्त के छीटे और माँस के लोथ फैले हुए थे।

आशंका और संत्रास के चील-कौओं से आकाश भरा हुआ था। इन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों के बीच द्विवेदी जी की साहित्यिक चेतना आकार ग्रहण कर रही थी। इसके साथ ही शांतिनिकेतन का सुरम्य वातावरण और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन एवं सेंट एण्ड्रयुज का सान्निध्य उनकी लेखकीय चेतना को पुष्ट आधार प्रदान कर रहा था।

द्विवेदी जी की साहित्यिक चेतना को समझने के लिए इन परिस्थितियों को समझना जरूरी है। अगर उनके साहित्य में बार-बार विश्वमानवता की चर्चा है और उनका संपूर्ण साहित्य इसी मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठित है, तो यह अनायास नहीं है। वास्तव में उनके दौर की देश-दुनिया की परिस्थितियों को समझे बिना उनकी संवेदना के मूल स्रोत को हृदयंगम नहीं किया जा सकता। यूरोपीय साहित्य में यह अवसादग्रस्त 'निहिलिज्म' और पराजयग्रस्त 'सिनिसिज्म' का दौर है जिसे यूरोप में ब्रेख्त, सार्त्र, कानू और काफ्का ने संभाला था और एशिया में राहुल सांकृत्यायन, धर्मानंद कौशांबी, भगवतशरण उपाध्याय और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने। देश 150 सालों की पराधीनता के बाद अपने कमजोर पैरों पर उठ खड़ा हुआ था और डगमग कदमों से अपनी राह तलाश रहा था।

सबसे बड़ी चुनौती देश के नवनिर्माण की थी। आचार्य द्विवेदी के साहित्य में इसकी चिंता दिखाई पड़ती है। उन्होंने लिखा है कि, "भारतवर्ष पराधीनता के जाल से मुक्त हो गया है। हमें इस पुराने राष्ट्र के अनेक पुर्जे दुरुस्त करने पड़ेंगे, अनेक जंजाल साफ करने होंगे, प्रत्येक क्षेत्र में नवनिर्माण का व्रत लेना होगा।"[2] यही द्विवेदी जी के साहित्य की मूल संवेदना है और साथ ही उनकी सांस्कृतिक चेतना और मानवतावाद को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत भी। उल्लेखनीय है कि उस दौर के प्रत्येक संवेदनशील साहित्यकार के यहाँ इस बात की चिंता प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई है। उस दौर के प्रसिद्ध कवि गिरिजा कुमार माथुर ने भी इसी तरह की सावधानी को अपनी कविता 'पंद्रह अगस्त' में वर्णित किया है –

"ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन
उसकी छायाओं का दर है
शोषण से मृत है समाज
कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई जिंदगी

यह विश्वास अमर है

जन गंगा में ज्वार

लहर तुम प्रवहमान रहना

पहरुए, सावधान रहना!"[3]

स्पष्ट है कि कवि की निगाह आने वाली चुनौतियों पर टिकी हुई है। चूँकि कवि भविष्य द्रष्टा होता है इसलिए वह अपने समाज और राष्ट्र को सचेत करने का कार्य करता है। माथुर जी इसके अपवाद नहीं हैं। वे अपने राष्ट्र की जनता को जिन तत्वों से सचेत रहने का सुझाव देते हैं आगे चलकर भारत उन सभी मकड़जालों का सामना करता है। अनेक प्रकार के झंझावात उपस्थित होते हैं जिसका सामना सम्पूर्ण भारतीय जनता करती है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम की लड़ाई में सम्पूर्ण भारतीय जनता ने जिस एकता और बंधुता का परिचय दिया था वह बाद के दिनों में क्षीण होता गया। कहना न होगा कि इसकी सबसे बड़ी कीमत स्वतन्त्रता के समय विभाजन के रूप में चुकाई गई। विभाजन की त्रासदी की गहरी छाप भारतीय जनमानस पर दिखाई पड़ता है। आचार्य द्विवेदी के यहाँ इस बात की चिंता स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। उन्होंने स्वतंत्र भारत की समस्या की ओर दृष्टिपात करते हुए लिखा है कि, "आजाद भारत के सामने सबसे बड़ी समस्या विभिन्न और विभक्त देशवासियों को एक राष्ट्र में विकसित करना रही है। इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य हैं, संस्कृत हैं, फारसी हैं - विरोधों और संघर्षों की विराट वाहिनी है।"[4] हिन्दू-मुस्लिम की परस्पर विरोधी संस्कृति के समन्वय के सूत्रों को खोजने का प्रयास उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का ही एक पहलू है, साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण की चिंता का एक हिस्सा भी क्योंकि "मुक्ति संग्राम समाप्त होते ही हमें दूसरे प्रकार के शत्रुओं से पाला पड़ा है।"[5] साम्प्रदायिकता ऐसा ही शत्रु है। इसमें भी "निबटना तो होगा ही। दुश्मन, दुश्मन है। घर में हो तो, बाहर हो तो।"[6] इन विषम परिस्थितियों से संतप्त द्विवेदी जी लिखते हैं कि "हाय हिन्दू और हाय मुसलमान! आठ सौ वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद एक-दूसरे के इतने नजदीक रहकर भी, तुमने एक संस्कृति न बनाई। वर्जन परायण हिन्दू भाव सबको धो-पोछ डालना चाहता है, अभिमानी मुसलमान भाव कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहता। ... आज हम प्रत्येक बात को हिन्दू दृष्टिकोण और मुसलमान दृष्टिकोण से देखने के आदी हो गए हैं, मानों ऐसा कोई दृष्टिकोण नहीं है जिससे हिन्दू और मुसलमान साथ ही देख सकें।"[7] द्विवेदी जी की चिंता के मूल में मनुष्य है न कि हिंदू या मुसलमान। वे देश के प्रत्येक नागरिक को एक समान भाव से, आदर की दृष्टि से, देखने के हिमायती थे। यही कारण है कि वे दोनों धर्मों

के बीच एकता के सूत्र की तलाश करते हैं। उन्हें एक साथ खड़ा होने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी चिंता यह है कि भारतीय मनीषा दोनों धर्मों को जोड़ने वाले सूत्रों की तलाश करे, उन्हें एक साथ जोड़ने का प्रयास करे। इस दिशा में होने वाले कार्य को देखकर वे अत्यंत उत्साहित होते हैं। अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए एक जगह उन्होंने लिखा है कि, "धीरे-धीरे भारतीय मनीषा ने उसके साथ भी एक समझौता किया। दोनों धर्मों के मूल तत्त्वों को खोज निकाला गया और मध्यकाल के संतों ने दोनों के भीतर सेतु निर्माण करने वाले साहित्य की रचना की। उत्सव, मेले, पोशाक, गहने, बातचीत, रीति-रस्म के भीतर से दोनों एक-दूसरे के निकट आने लगे। दोनों के भीतर मिलाने वाले आध्यात्मिक तत्वों को ढूंढ निकाला गया। अंग्रेजी के आने के पूर्व भारतीय मनीषा बहुत कुछ एकत्व की खोज कर चुकी थी।"[8] स्मरणीय है कि मध्यकालीन साहित्य आचार्य द्विवेदी जी का प्रिय क्षेत्र है। उन्होंने इस युग के साहित्य का गहन अध्ययन किया है और सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से विश्लेषण भी किया है। वे इस बात से पूर्णतः अवगत थे कि औपनिवेशिक सत्ता ने दोनों धर्मों के मध्य एक बड़ी खाई तैयार कर दी है जिसे भर पाना असंभव है। इस अलगाव का सबसे ज्यादा फायदा अंग्रेजी शासन-व्यवस्था को पहुँचा। वे दोनों समुदायों को लड़वाकर स्वयं राजा बन गए। उनका मत है कि, "मौका देखकर उन्होंने दरार पर आघात किया, पहले से ही अलग हिन्दू और मुसलमान दूर से दूरतर होते चले गए। मौका देखकर विदेशी राजा बन बैठे और अपूर्व अध्यावसाय और लगन के साथ समझने की कोशिश करते गए। जितना ही उन्होंने समझा, उतना ही भेदभाव को उत्तेजित किया।"[9] औपनिवेशिक शासन व्यवस्था लगातार इस मंत्र के अनुसार कार्य कर रही थी कि 'फूट डालो और राज करो।' इसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों को देश विभाजन जैसी त्रासदी झेलनी पड़ी।

भारत देश केवल एक भूभाग नहीं है। वह अपनी जीवंत और समवेशी संस्कृति के कारण आज भी करोड़ों लोगों के हृदय में वास करता है। वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि किसी राष्ट्र की पहचान तीन तत्वों के आधार पर की जाती है, "भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप निर्मित होता है।"[10] भारत में बसने वाले लोग विभिन्न समुदाय के हैं। अनंत काल से यहाँ विभिन्न जातियाँ आती रहीं और उन्हें बसेरा/ठिकाना मिलता रहा है। यह अकारण नहीं है कि छायावाद के प्रमुख हस्ताक्षर जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'चन्द्रगुप्त' नाटक की एक पात्र, कार्नेलिया, भारत की महानता का गीत गाती है-

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।"[11]

एक विदेशी कन्या के द्वारा भारत के सांस्कृतिक विरासत को महिमामंडित करना कोई साधारण बात नहीं है। कार्नेलिया का कथन भारत का जातीय स्वभाव है। इन सभी तथ्यों के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है की हिंदू-मुस्लिम अपनी धार्मिक मान्यता के स्तर पर कभी मिल न सकें। मुसलमानों से भी अधिक अंतर आर्यों और द्रविड़ों के दृष्टिकोण में था, पर समय के मरहम से वे सारी समस्याएं सुलझ गई। आर्यों के जीवन और सामाजिक दृष्टि में ही नहीं धार्मिक आचारों में भी द्रविड़ों का प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। अंग्रेजों द्वारा झटका खाने के बावजूद "भारतीय मनीषी, जिनमें गांधी जी प्रमुख थे, नए मिलन मार्ग को प्रशस्त करने में समर्थ हुए। बार-बार झटका खाने के बाद भी यह प्रक्रिया अपना काम किए जा रही है।"[12] सांस्कृतिक विभिन्नता के बावजूद ऐसा नहीं है कि ये दोनों जातियाँ पास न आ सकें। वस्तुतः 'संस्कृति धर्म के समान अविरोधी वस्तु है।'

परन्तु इतने लम्बे साहचर्य के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय क्यों नहीं हो सका? क्या इसलिए कि परस्पर इतना वैभिन्य था कि दोनों आमने-सामने ललकारती खड़ी थीं? शायद नहीं। "वस्तुतः इससे कहीं अधिक अंतर आर्यों और द्रविड़ों के दृष्टिकोणों में था, पर वे दोनों खूब अच्छी तरह मिल गए हैं। इसलिए हिन्दू और मुसलमान नहीं मिल सकते, यह गलत मन्तव्य है।"[13] और इसके प्रमाण में द्विवेदी जी मध्यकाल के उन स्वतः स्फूर्त प्रयासों का हवाला देते हैं जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों को करीब ला रहे थे। लेकिन इन प्रयासों को धक्का क्यों लगा और करीब आकर अचानक फिर दोनों संस्कृतियाँ दोगुने वेग से विपरीतगामी क्यों हो गई? इन कारणों का भी सम्यक विश्लेषण भी वे प्रस्तुत करते हैं।

मध्य युग का अंत और अंग्रेजों का भारत आगमन भारतीय इतिहास की ऐसी घटना है जिसने पूरे भारत की तस्वीर ही बदल दी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, तकनीक तथा कूटनीतियों का सहारा लेकर 'श्वेतांग नाविक', 'भारतीय अंतरीप के इस कोने से उस कोने तक व्याप्त हो गए।'अंग्रेजों ने हिन्दू और मुस्लिम को अलग करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और जिसका चरम हमें देश-विभाजन के रूप में देखने को मिला। वास्तव में, अंग्रेजों ने उन स्थलों का गहरा अध्ययन किया जहाँ से ये जातियां हल्की चोट से ही दूरतर हो सकती थीं। हिन्दुओं की 'वर्जनपरायणता, जो सब कुछ धो-पोंछ देना चाहती थी' और मुस्लिमों का 'अभिमानी भाव, जो किसी भी चीज को ग्रहण करने के प्रति कम सहिष्णु' था- हल्के प्रयासों से ही पुराने मर्ज की तरह उभर आया और 1857 के सबक के बाद अंग्रेजों ने निरन्तर इसे उभारा और कामयाबी पाते रहे।

द्विवेदी जी इस बात का संकेत देते हैं कि जिस प्रकार अंग्रेजों ने हमारी दरारों का अध्ययन करके उन्हें और चौड़ा करने में सफलता पाई उसी प्रकार हम निरन्तर और गहन अध्ययन के द्वारा उन संधि स्थलों का भी पता लगा सकते हैं जो हमें निकटतर ला सकते हैं। भारतीय समाज के इतिहास के गहन विश्लेषण के पश्चात् ये उन निम्न तीन मार्गों का हवाला देते हैं, जिनके द्वारा ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में हिन्दू-मुस्लिम एक दूसरे के नजदीक आए हैं-

1. पहला मार्ग उन संत और विद्वज्जनों का रहा है जो मानव-मानव की समानता के पक्षधर हैं और जाति, धर्म या भाषाभेद उनके लिए गौण है। किंतु महत्वपूर्ण होते हुए भी अधिक सफलता नहीं मिली है। "वस्तुतः प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान जानता है कि उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र में कही मतद्वैध नहीं है। एक ही परमशक्ति को दोनों अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। एक ही परमपिता के सब पुत्र हैं; एक ही त्यागमय जीवन को सभी महापुरुष आदरणीय मानते हैं। फिर इससे काम सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि साधारण जनता उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा धर्म की रूढ़ियों को अधिक मानती है। ये रूढ़ियाँ ही उसके लिए धर्म है।"[14]

2. दूसरा रास्ता द्विवेदी जी लौकिक प्रयासों से सम्बन्धित मानते हैं। नाच-गाने, खेल-कूद, पहनावा-ओढ़ावा, खरीद-बिक्री आदि क्षेत्रों में सुविधा, आकर्षण या पारस्परिक सह-निर्भरता आदि कारणों से दूर तक हिन्दू-मुस्लिम एकता देखी गई, किंतु यह राह भी सफल नहीं रही है क्योंकि "जब तक इनके साथ उच्चतर मनोवृत्ति का योग नहीं स्थापित होता, तब तक ये चीजें हवा के साथ उड़ जाती है। मामूली उकसावे से यह भीत भहरा जाती है।"[15]

3. द्विवेदी जी तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण रास्ता. जिससे सर्वाधिक सफलता मिली है, विज्ञान का मानते हैं। "इस क्षेत्र का मिलन इतना पक्का और अकृत्रिम हुआ है कि एकता के नाम पर अपील करने वाले शुभ-बुद्धि व्यक्ति तक इसकी खबर नहीं करते। कारण कि इस क्षेत्र में अलगाव का भाव एकदम लुप्त हो गया है।"[16] द्विवेदी जी ऐसे तमाम उदाहरण उठाकर सामने रखते हैं, जो इस क्षेत्र में मिलन के गवाह हैं।

किंतु भावुक होने के बावजूद वे बौद्धिकता और वैज्ञानिक दृष्टि का सहारा नहीं छोड़ते। उनका मानवतावाद हवाई मानवतावाद नहीं है जो सिर्फ भावुकता की भूमि पर प्रतिष्ठित हो। उसके पीछे ठोस और सुस्थिर वैज्ञानिक धरातल है। हिन्दू-मुस्लिम मिलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवगाहन करते हुए वे निष्कर्ष देते हैं, "शायद इतिहास से हमें यह सीखना अभी बाकी है कि साम्प्रदायिक मिलन की भूमि मनोवृत्ति है। इसी को उत्तेजित करना वांछनीय है।"[17] और उनकी यात्रा सिर्फ हिन्दू-मुस्लिम मिलन तक ही नही रूकती, बल्कि उससे आगे बढ़ती हुई घोषित करती है, "वस्तुतः हिन्दू-

मुस्लिम एकता भी साधन है, साध्य नहीं, साध्य है मनुष्य को पशु स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर 'मनुष्यता' के आसन पर बैठाना।"[18]

उन्हें मनुष्य और मनुष्यता पर पूरा भरोसा है। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा है, "मनुष्य ऊपरी विभेदों के अन्तराल में एक और अखंड है। तथाकथित धर्म-मत, राष्ट्रीयता और जाति-तत्व की अखण्डता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचा सकते। ... जो विभेद दिखाई देते हैं, यह ऊपरी है।"[19] यद्यपि इस मार्ग में तमाम बाधाएँ हैं- "मार-काट, नोंच-खसोट, झगड़ा-टंटा, किंतु फिर भी मानव अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। रास्ता खोजते वक्त भटक जाना, थक जाना या झुंझला पड़ना, इस बात के सुबूत नहीं है कि रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है। यह मार-काट, नोच-खसोट, झगड़ा-टंटा भी उसी प्रयत्न के अंग हैं।"[20] लुहार की खटाखट, आग और धूल-धक्कड़ में ही वीणा के तार तैयार होते हैं। द्विवेदी जी पूरी तरह आश्वस्त होकर कहते हैं- "पीड़ा है तो आशा भी है।"[21]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के हित की चिंता करने वाले विचारकों मेन से एक थे। वे साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। उनकी चिंता जोड़ने की है। अनेक तरह के विचारों को जैसे महात्मा गांधी आत्मसात करते हैं ठीक उसी तरह आचार्य द्विवेदी भी अनेक मतावलंबियों, धर्मानुयायियों को एक साथ जोड़कर चलने मेन विश्वास करते हैं। उन्हें इस बात का कष्ट है कि हमारे ऊपर शासन करने वाली औपनिवेशिक सत्ता ने न केवल हमारी पहचान को तरह-नहस करने का प्रयास किया बल्कि हमारी कमजोरियों का फायदा उठाकर आंतरिक कलह पैदा कर दी, जिसकी कीमत लगभग दस लाख लोगों न जान देकर चुकाई। वे बारंबार इसलिए भी सचेत करते हैं ताकि उसकी पुनरावृत्ति न हो सके।

संदर्भ सूची :

[1] अग्रवाल, वासुदेवशरण. (1952). *कला और संस्कृति*. इलाहाबाद: साहित्य भवन लिमिटेड. पृ. - भूमिका से.

[2] द्विवेदी, मुकुंद. (2007). *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, *भाग-10*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 96

[3] माथुर, गिरिजा कुमार. (1955). *धूप के धान*. काशी: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. - 40

[4] द्विवेदी, मुकुंद. (2007). *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, *भाग-10*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 30

[5] द्विवेदी, मुकुंद. (2007). *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, *भाग-09*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 159

[6] वही.

[7] वही. पृ. 170

[8] वही. पृ. 288

[9] द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (2007). *ठाकुर जी की बटोर*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. - 48

[10] अग्रवाल, वासुदेवशरण. (1949). *पृथिवी-पुत्र*. नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन. पृ. - 91

[11] प्रसाद, जयशंकर. (1994). *चन्द्रगुप्त*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. - 73

[12] द्विवेदी, मुकुंद. (2007). *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, *भाग-09*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. - 288

[13] वही. पृ. - 298

[14] वही. पृ. - 299

[15] वही.

[16] वही.

[17] वही. पृ. - 300

[18] वही.

[19] वही. पृ. - 382

[20] वही. पृ. - 199

[21] वही. पृ. – 450